जैन कर्म सिद्धान्त

श्यामलाल पाण्डवीय

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता के अधिक निकट रही है। समय-समय पर अनेकों दिव्य एवं महान आत्माओं द्वारा विभूषित इस देश का इतिहास धर्म एवम् दर्शन से अत्याधिक प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन के विविध पक्षों के रूप में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग. मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन में हमें मानव जीवन के प्रति विविध मतों के दर्शन होते हैं। इनमें से चार्वाक को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने परलोक, पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की धारणा को ग्रहण किया है। ये सभी मानते हैं कि मानव जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

शाब्दिक दृष्टि से कर्म के तीन अर्थ प्रमुख हैं। पहला—कर्म कारक; कर्म का यह अर्थ जगत प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ है—क्रिया। इसके अनेक प्रकार हैं। सामान्यतः विविध दार्शनिकों ने कर्म के द्वितीय अर्थ को आधार मान कर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। तीसरा अर्थ है—जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के स्कन्ध। यह अर्थ अप्रसिद्ध है, केवल जैन सिद्धान्त ही इसका विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त—

न्याय दर्शन के अनुसार मानव शरीर द्वारा सम्पन्न विविध कर्म; राग, द्वेष और मोह के वशीभूत होकर किये जाते हैं। अच्छा आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म को उत्पन्न करती है। धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म को अदृष्ट भी कहते हैं। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन में कारण होता है। किन्तु अदृष्ट जड़ है और जड़ में फलोत्पादन शक्ति चेतन की प्रेरणा के बिना संभव नहीं है। अतः ईश्वर की प्रेरणा से ही अदृष्ट फल देने में सफल होता है।[1]

---

1. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर—किरण १, प्र.—श्री देवेन्द्र कुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, आरा। पृ. ३८।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की प्रथम परिस्पन्दात्मक क्रिया, ये सब कार्य अदृष्ट द्वारा होते हैं।[2]

सांख्य दर्शन के मत में—"क्लेश रूपी सलिल से सिक्त भूमि में कर्म बीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्वज्ञान रूपी ग्रीष्म के कारण क्लेश जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्म-बीज उत्पन्न हो सकते हैं।[3]

योग दर्शन के अनुसार पातञ्जल योगसूत्र में क्लेश का मूल कर्माशय वासना को बतलाया है।[4] यह कर्माशय इस लोक और परलोक में अनुभव में आता है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार—प्रत्येक कर्म में अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है, और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अतः अपूर्व, कर्म तथा फल के बीच की अवस्था का द्योतक है। शंकराचार्य ने इसीलिये अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है।[5]

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। विज्ञान दीपिका में यह बतलाया गया है, कि जिस प्रकार घर में तथा क्षेत्र में स्थित अन्न का विनाश विविध रूप से किया जा सकता है, किन्तु मुक्त अन्न का विनाश पाचन द्वारा ही होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग के द्वारा ही होता है।[6]

बौद्ध धर्म में भी, जो कि अनात्मवादी है कर्मों की विभिन्नता को ही प्राणियों में व्याप्त विविधता का कारण माना है। अंगुतर निकाय में सम्राट मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर में भिक्षु नागसेन कहते हैं[7]—"राजन ! कर्मों के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नहीं होते। भगवान ने भी कहा है कि मानवों का सद्भाव कर्मों के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी हैं। कर्मों के अनुसार ही योनियों में जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है, और वह जीव का उच्च और नीच रूप मे विभाग करता है।

---

2. मणिगमनं सूच्यभिसर्पण मित्य दृष्ट कारणम्।—वै. सू. ५।१।१५
वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्।—वै. सू. ५।२।७

3. क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धि भूमौ कर्मवीजान्यंकुरं प्रसुवते।
तत्वज्ञान निदाघपीतसकलक्लेशसलिलायां ऊषरायां कुतः कर्मवीजानामंकुर प्रसव।
—तत्व कौमुदी सांख्य का० ६७

4. क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टवेदनीयः।—योग सूत्र २।१२

5. नचाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति।
अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्था अपूर्वनाभास्तीति तर्क्यते।
—शा. भा. ३।२।४०

6 जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन; पूर्वोक्त, पृ. ४०

7. "महाराज कम्मानं नानाकरणेन मनुस्सा न सब्बे समका"। भासितं एतं महाराज भगवता कम्मस्स कारणेन माणवसत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी, कम्मबन्धु कम्मपरिसरणा कम्मं सत्तो विभजति यदिद हीनप्पणीततायीति।"
—अंगुत्तर निकाय

यही नहीं भारत के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथों में कर्म सिद्धान्त की महत्ता तथा प्रकृति का यथा—संभव उल्लेख मिलता है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि—प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। प्राणी का अधिकार कर्म करने में ही है, फल में नहीं।[8] महाभारत में भी आत्मा को बांधने वाली शक्ति को कर्म कहा है।[9] गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस् में कर्म को प्रधान कहा है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है। लगभग सभी दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रकट कर इसे जीवन-दर्शन का प्रमुख आधार माना है।

जैन कर्म दर्शन—

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का जितना सविस्तार विवेचन किया गया है, वह अन्य दर्शनों में कर्म सिद्धान्त के विवेचन से कई गुना है। जैन वाङ्मय में इस संबंध में विपुल साहित्य भण्डार उपलब्ध है। प्राकृत भाषा का जैन ग्रंथ "महाबन्ध", कर्म सिद्धान्त पर विश्व का सबसे वृहद ग्रंथ है, जिसमें चालीस हजार श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार तथा क्षपणासार आदि कर्म सिद्धान्त विषयक वृहद ग्रंथ हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म दर्शन को विशेष महत्व दिया गया है, तथा उसकी सूक्ष्म विवेचना की गई है।

'कर्म' का अर्थ—

मौलिक अर्थ की दृष्टि से तो कर्म का अर्थ वास्तव में क्रिया से ही सम्बन्धित है। मन, वचन एवं काय के द्वारा जीव जो कुछ करता है, वह सब क्रिया या कर्म है। मन, वचन और काय ये तीन उसके माध्यम हैं। इसे जीव कर्म या भाव कर्म कहते हैं, यहां तक कर्म की धारणा सभी को स्वीकार है। यह धारणा केवल संसारी जीवों की क्रिया पर ही विचार करती है, अर्थात केवल चेतन की क्रियाऐं ही इसकी विषय वस्तु हैं, जड़ की क्रियाओं अथवा जड़ एवं चेतन की क्रियाओं में सम्बन्धों पर अन्य धारणाओं में विचार नहीं किया जाता, जैन दर्शन इन दोनों के सम्बन्ध में भी गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस कारण उसमें कर्म की व्याख्या अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की भौतिक व्याख्या करते हैं।

परिभाषा एवं व्याख्या—

श्री क्षु. जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार[10]—"भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुदगल स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बंधते हैं, यह बात केवल जैनागम ही बताता है। यह सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तीक होते हैं। जैसे कर्म, जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल पश्चात परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फल्न-दान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण वे दृष्ट नहीं है।"

---

[8] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू: मा ते संगोऽस्तवकर्मणि॥——भगवद्गीता २।४७

[9] "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्ययातु विमुच्यते", महाभारत——शान्तिपर्व (२४०-७)

[10] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. १,—जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. २५

इस प्रकार जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि यदि 'कर्म' भौतिक स्वरूप का है, तो 'कारण' भी भौतिक स्वरूप का होगा। अर्थात जैन धर्म यह मानता है कि–चूंकि विश्व की सभी वस्तुऐं सूक्ष्म स्कन्धों या परमाणुओं से बनी हैं, अतः परमाणु ही वस्तु का 'कारण' हैं और चूंकि परमाणु भौतिक तत्व है, अतः वस्तुओं के 'कारण' भी भौतिक तत्व हैं। इस सम्बन्ध में आलोचकों की इस आपत्ति का कि "अनेकों क्रियाऐं, यदा-सुख, दुःख, पीड़ा आदि विशुद्ध रूप से मानसिक हैं, इसलिये उनके कारण भी मानसिक होने चाहिये, भौतिक नहीं।" उत्तर देते हुए कहा है कि—ये अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि सुःख, दुःख इत्यादि अनुभव, उदाहरणार्थ—भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश के साथ।[11] अतः यह माना गया है कि-इन अनुभवों के पीछे 'प्राकृतिक कारण' हैं, और यही कर्म है। इसी अर्थ में सभी मानवीय अनुभवों के लिये सुखद या दुःखद तथा पसंद या नापसंद—कर्म जिम्मेवार हैं।[12]

इसी कारण विभिन्न जैन दार्शनिकों ने जीव के रागद्वेषादिक परिणामों के निमित्त से जो कार्मण वर्गणा रूप पुदगल-स्कन्ध जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हें कर्म कहा है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार—"जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों में प्रवक्त होता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानवरणादि रूप से आत्म प्रदेशों में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है।[13] श्री अकलंक देव ने कर्म की सोदहारण व्याख्या करते हुए कहा है कि—"जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरा रूप में परिणमन होता है; उसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों तथा मन, वचन और काय योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों में स्थित पुदगल परमाणुओं का कर्मरूप में परिणमन होता है।[14]

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने कर्म की विषद् एवं सूक्ष्म व्याख्या की है जो अन्य दर्शनों में की गई व्याख्याओं से नितान्त भिन्न है। जहां अन्य दर्शन परिणमनरूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दन रूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, वहां जैन कर्म सिद्धान्त इन दोनों को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन में कर्म की यह व्याख्या अत्यन्त व्यापक है।

कर्म और आत्मा—

लगभग सभी दर्शन, जो कर्म की धारणा पर विचार करते हैं, कर्म को आत्मा से सम्बन्धित अवश्य मानते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन से युक्त है, कर्म बन्धन जन्म जन्मातर आत्मा को बांधे रहते हैं, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु एक दृष्टि से वह सादि भी है; जिस

---

[11] 'कर्म ग्रन्थ', I. ३

[12] जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, वाईली इस्टर्न लि., पृ. १५१.

[13] परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।।
—प्रवचन सार–९५

[14] यथा भोजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीज पुष्पलतानां मदिराभावेन परिमाणः तथा पुदगलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् परिमाणो वेदितव्यः।
—तत्वार्थबार्तिक, पृ. २९४

प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि है, और पर्याय की अपेक्षा से वह सादि है. इसी प्रकार कर्मबन्धन सन्तान या उत्पत्ति की दृष्टि से अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि है। जैन दर्शन में कर्म और आत्मा के सम्बन्ध में इस व्याख्या के कारण ही आगे चलकर उसे वैज्ञानिक रूप दिया है जिस कारण वह अन्य दर्शनों से अलग है। जैन दर्शन कर्मबन्धन को अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि मानकर ही आगे यह और व्याख्या करता है, कि––पर्याय की दृष्टि से सादि होने के कारण पूर्व के कर्मबन्धनों को तोड़ा भी जा सकता है। कोई भी सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त नहीं हो जाते, विरोधी कारणों का समागत होने पर अनादि सम्बन्ध टूट भी जाते है, जिस प्रकार बीज और वृक्ष का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी, पर्याय विशेष में सादि होता है. और पर्याय विशेष में किसी बीज विशेष के जल जाने पर, अर्थात विरोधी कारणों के समागम के कारण उसमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इस विषय में आचार्य अकलंक देव तत्वार्थराज वार्तिक (२/७) में ऐसा ही दृष्टांत देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।

यही कारण है कि, जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वभाव की सकारात्मक व्याख्या करते हुए उसे विशुद्ध एवं असीम क्षमताओं वाली कहा है। उनके अनुसार कर्म के दुष्ट प्रभाव के कारण वह अपने को सीमित अनुभव करती है। कर्म के इस दुष्ट प्रभाव से आत्मा को मुक्त करा पाने पर ही सदकर्मों की उत्पत्ति होती है, सदकर्मों से कर्मबन्ध टूटते हैं और कर्मबन्धों से पूर्ण मुक्ति पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष की धारणा का विकास, कर्म दर्शन के विकास पर ही आधारित है।

कर्म के भेद —

जैन दार्शनिकों ने कर्म की वृहद व्याख्या करते हुए कहा है कि––कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।[15] इस प्रकार कर्म को दो आधारों भौतिक तथा मानसिक, के आधार पर दो भेद किये गए हैं––'द्रव्य कर्म' एवं 'भाव कर्म'। द्रव्य कर्म का अर्थ है जहां द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया हो अर्थात जहां रागद्वेषादि रूप भावों का निमित्त पाकर जो कार्मण बर्गणारूप पुदगल परमाणु आत्मा के साथ बंध जाते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। यह पौदगलिक हैं, और इनके और भी भेद किये गए हैं।

भाव कर्म, आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं। इनमें इच्छा तथा अनिच्छा जैसी मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। अर्थात ज्ञानरणादिरूप द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग द्वेषादि रूप भावों को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पारस्परिक कार्य-कारण परम्परा अनादिकाल से चली आरही है। इन दोनों में नैमेत्तिक सम्बन्ध है। भावकर्म का निमित्त द्रव्यकर्म है और द्रव्य कर्म का निमित्त भावकर्म है। राग द्वेषादिरूप भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बंधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में राग द्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है।[16]

---

[15] मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीव तहेव अण्णाण। अविरदि जोगो मोहो कोहादिया इमे भावा। समयसार। मूल। ८७। प्र.—अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली

[16] जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 47

कर्म बन्ध—

जैन दर्शन के अनुसार दोनों ही प्रकार के कर्मों से उत्पन्न कर्माण् विभिन्न कालावधियों के लिये मनुष्य को बांधकर रखते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध कर्म ओर आत्मा के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न अवस्था है। यह अवस्था कषाय एवं योग के कारण उत्पन्न होती है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने कहा है कि[17]— "जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म के योग्य पुदगलों को ग्रहण करता हैं। इसी का नाम बन्ध है। शुद्ध आत्मा में कर्म का बन्ध नहीं होता है, किन्तु कषायवान् आत्मा ही कर्म का बन्ध करता है। आचार्य जिन सेनाचार्य ने भी कर्मबन्ध की लगभग ऐसी ही व्याख्या करते हुए कहा है कि—"यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट संकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है, इससे रागद्वेष उत्पन्न होता है और इस रागद्वेष से कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार रागद्वेष के निमित्त से संसार का चक्र चलता रहता है।[18]

इस प्रकार रागद्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बंधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में रागद्वेष रूपी भाव कर्म उत्पन्न होता है। इन कर्मों से उत्पन्न परमाणु प्रत्येक समय बंधते रहने से अनन्तानन्त होते हैं। यह बन्ध केवल जीवप्रदेश के क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं का होता है, बाहर के क्षेत्र में स्थित कर्म परमाणुओं का नहीं। आत्म प्रदेशों में होने वाला यह कर्मबन्ध प्रति समय होता है। यह सम्भव नहीं है कि किसी समय किन्हीं आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो और किसी समय अन्य आत्मप्रदेशों के साथ।

कर्मफल—ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को कर्म का फलदाता मानते हैं। उनके अनुसार यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख में असमर्थ है। यह जीव ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में या नरक में जाता है।[19] जैन दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं अपना फल देते हैं, किसी के माध्यम से नहीं। इसी कारण कहा है कि उस कम से उत्पन्न किया जाने वाला सुख दुःख कर्मफल है।[20] यह कर्मफल कर्म की प्रकृति से प्रभावित होता है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ एव अशुभ भावों से किये गए कर्मों में जीव पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, अतः इन भावों का प्रभाव कर्म परमाणुओं पर भी होता है, और इसी के अनुसार वे कर्म अपने उदय के अवसर पर तदनुरूप सुख और दुःख प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विषद तथा वैज्ञानिक विवेचना की गई है जो यह बतलाती है कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म का सृष्टा एवं भाग्य विधाता है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति न तो उसके कर्म को निर्धारित करती है, न ही उसके फल को। यही नहीं ईश्वरीय या अन्य कोई ऐसी शक्ति उसे बुरे कर्मों के उदय या फल भोगने से मुक्त भी नहीं करा सकती। कर्मों से मुक्ति के लिये कर्ता द्वारा स्वयं कर्मक्षय करना आवश्यक है। कर्मक्षय से कोई भी जीव शुद्ध अवस्था अर्थात मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि न तो कोई लक्ष्मी देता है, और न कोई इसका उपकार करता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अवकार करते हैं।

णय को बि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणई उवयार
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३१८

* * *

---

17. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुदगलानादत्ते स बन्धः। —तत्वार्थसूत्र ८।२
18. संकल्पवशो मूढः बस्त्विष्टा निष्टतां नयेत, रागद्वेषौं ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते ॥ महापुराण २४।२१
19. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ —महाभारत, वन पर्व ३०।२८
20. तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुख दुःख तत्कर्म फलम। प्रवचनसार/त. प्र./१२४.